मैं स्वयं भगवान हूँ

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

डॉ. भारिल्ल द्वारा प्रतिपादित एकता के पाँच सूत्र

1. भूतकाल को भूल जाओ।
2. भविष्य के लिये कोई शर्त मत रखो।
3. वर्तमान में जो जहाँ है, वहीं रहकर अपना कार्य करें।
4. जिन पाँच प्रतिशत बातों के संबंध में असहमति हैं, उन्हें अचर्चित रहने दें और आलोचना प्रत्यालोचना से दूर रहें।
5. जिन बातों में पूर्ण सहमति हैं, उनका मिलजुलकर या अलग-अलग रहकर, जैसे भी सम्भव हो, डटकर प्रचार-प्रसार करें।

मैं स्वयं भगवान हूँ

लेखक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम.ए., पीएच.डी.

सम्पादक :

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर – 302015

फोन : (0141) 2705581, 2707458

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

हिन्दी :

प्रथम नौ संस्करण (१६ अप्रेल, २००० से अद्यतन)	:	५३ हजार
दसम् संस्करण (२५ दिसम्बर, २००९)	:	२ हजार

गुजराती :

चार संस्करण (१५ अगस्त, २००० से अद्यतन	:	१४ हजार

अंग्रेजी

तीन संस्करण (३० सितम्बर, २००१)	:	६ हजार

मराठी

तीन संस्करण (२६ अक्टूबर, २००१)	:	६ हजार
महायोग	:	**८१ हजार**

मूल्य : चार रुपये

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्री मानिकचन्दजी जैन, एडपैन वाले मलाड़, मुम्बई ५०१
२. श्रीमती ललितादेवी जैन, जयपुर ५००
३. श्री ताराचन्दजी सोगानी, जयपुर ५००
४. स्व. शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज २५१
५. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाडनूँ २५१

कुल योग २,००३

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

जैन साहित्य के इतिहास में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल सशक्त हस्ताक्षर के रूप में प्रतिष्ठापित हैं। समाज के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों में वे अग्रगण्य हैं। जिसप्रकार उनके तात्त्विक प्रवचनों को सुनने के लिए बड़ी संख्या में समाज एकत्रित होती है; उसीप्रकार उनके सत्साहित्य के पाठक भी विश्व के कोने-कोने में व्याप्त हैं। जैन ही नहीं, अपितु जैनेतर समाज में भी वे समादर के पात्र हैं।

'मैं स्वयं भगवान हूँ' डॉ. साहब के तीन विशेष लोकप्रिय व्याख्यानों का संग्रह है, जो उन्होंने विदेश की भूमि पर दिए थे। वहाँ इन व्याख्यानों को काफी लोकप्रियता मिली। समाज के अपार स्नेह को दृष्टिगत रखते हुए 'आत्मा ही है शरण' पुस्तक का सृजन डॉ. साहब द्वारा किया गया। उक्त कृति के कतिपय उदाहरण समाज की जवान पर चढ़कर बोलने लगे। ऐसे ही तीन उदाहरण - करोड़पति रिक्शेवाला, मेले में खोया बालक और सेठ के पड़ौसी बेटे का सजीव चित्रण डॉ. साहब द्वारा प्रस्तुत कृति में किया गया है।

'मैं स्वयं भगवान हूँ' शीर्षक ही विषय वस्तु का दिग्दर्शन करा देता है; अत: अधिक कुछ लिखना समीचीन प्रतीत नहीं होता। प्रत्येक आत्मा स्वयं भगवान बनने की ताकत रखती है। हम सभी अपने स्वरूप को पहिचानें और परमात्म पद को प्राप्त करें - इसी भावना के साथ।

— महामंत्री

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सम्पादकीय

यद्यपि मेरे अन्तर में जिन-अध्यात्म को जन-जन तक पहुँचाने की प्रबल भावना वर्षों से हिलोरें ले रही थीं। मैं चाहता था कि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का मर्म सभी को सरल-सुबोध भाषा में सुलभ हो; जिससे अनभ्यासी लोग भी उसके लाभ से वंचित न रहें; तथापि मुझे ऐसा सरल-सुबोध कथात्मक प्रतिपादन सुनने-पढ़ने को नहीं मिला; जिससे मेरी भावना फलीभूत हो सके।

जब मैंने डॉ. भारिल्ल के मुख से करोड़पति रिक्शेवाला और मेले में खोये बालक के उदाहरणों के माध्यम से जिन-अध्यात्म का मर्म सुना तो मेरी भावना उन्हें छपाकर जन-जन तक पहुँचाने की हुई।

इसी बीच श्री राजेश शास्त्री, शाहगढ़ ने इन व्याख्यानों को पृथक् से छोटी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हो तो बहुत लाभ होगा - ऐसी भावना व्यक्त की। उनकी भावना से मेरे विचारों को बल मिला।

योगानुयोग से इसी समय मेरे भानजे श्री भाऊसाहेब नरदेकर ने इन व्याख्यानों को ही छपाकर पाँच हजार लोगों को अपनी ओर से वितरित करने की भावना व्यक्त की। इसप्रकार यह कृति आपके हाथों में प्रस्तुत है।

मुझे विश्वास है कि समाज इससे लाभान्वित होगा और अपनी भावनायें मुझतक पहुँचायेगा तो मुझे अपने श्रम की सार्थकता तो प्रतीत होगी ही, आगे भी इसप्रकार के कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

- ब्र. यशपाल जैन

मैं स्वयं भगवान हूँ

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कहता है कि सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं। स्वभाव से तो सभी परमात्मा हैं ही; यदि अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जायें, रम जायें तो प्रगटरूप से पर्याय में भी परमात्मा बन सकते हैं।

जब यह कहा जाता है तो लोगों के हृदय में एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि 'जब सभी परमात्मा हैं' तो 'परमात्मा बन सकते हैं'—इसका क्या अर्थ है? और यदि 'परमात्मा बन सकते हैं'— यह बात सही है तो फिर 'परमात्मा हैं'—इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है; क्योंकि बन सकना और होना—दोनों एकसाथ संभव नहीं हैं।

भाई, इसमें असंभव तो कुछ भी नहीं है; पर ऊपर से देखने पर भगवान होने और हो सकने में कुछ विरोधाभास अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर सब बात एकदम स्पष्ट हो जाती है।

एक सेठ था और उसका पाँच वर्ष का एक इकलौता बेटा। बस दो ही प्राणी थे। जब सेठ का अन्तिम समय आ

गया तो उसे चिन्ता हुई कि यह छोटा-सा बालक इतनी विशाल सम्पत्ति को कैसे संभालेगा?

अत: उसने लगभग सभी सम्पत्ति बेचकर एक करोड़ रुपये इकट्ठे किये और अपने बालक के नाम पर बैंक में बीस वर्ष के लिए सावधि जमायोजना (फिक्स डिपाजिट) के अन्तर्गत जमा करा दिये। सेठ ने इस रहस्य को गुप्त ही रखा, यहाँ तक कि अपने पुत्र को भी नहीं बताया, मात्र एक अत्यन्त घनिष्ठ मित्र को इस अनुरोध के साथ बताया कि वह उसके पुत्र को यह बात तबतक न बताये, जबतक कि वह पच्चीस वर्ष का न हो जावे।

पिता के अचानक स्वर्गवास के बाद वह बालक अनाथ हो गया और कुछ दिनों तक तो बची-खुची सम्पत्ति से आजीविका चलाता रहा, पर अन्त में रिक्शा चलाकर पेट भरने लगा। चौराहे पर खड़े होकर जोर-जोर से आवाज लगाता कि दो रुपये में रेलवे स्टेशन, दो रुपये में रेलवे स्टेशन.....।

अब मैं आप सबसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि वह रिक्शा चलानेवाला बालक करोड़पति है या नहीं?

क्या कहा?

नहीं।

क्यों?

क्योंकि करोड़पति रिक्शा नहीं चलाते और रिक्शा चलानेवाले करोड़पति नहीं हुआ करते।

अरे भाई, जब वह व्यक्ति ही करोड़पति नहीं होगा, जिसके करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं तो फिर और कौन करोड़पति होगा?

पर भाई बात यह है कि उसके करोड़पति होने पर भी हमारा मन उसे करोड़पति मानने को तैयार नहीं होता; क्योंकि रिक्शावाला करोड़पति हो—यह बात हमारे चित्त को सहज स्वीकार नहीं होती। आजतक हमने जिन्हें करोड़पति माना है, उनमें से किसी को भी रिक्शा चलाते नहीं देखा और करोड़पति रिक्शा चलाये—यह हमें अच्छा भी नहीं लगता; क्योंकि हमारा मन ही कुछ इसप्रकार का बन गया है।

'कौन करोड़पति है और कौन नहीं है?'—यह जानने के लिए आजतक कोई किसी की तिजोरी के नोट गिनने तो गया नहीं; यदि जायेगा भी तो बतायेगा कौन? बस बाहरी ताम-झाम देखकर ही हम किसी को भी करोड़पति मान लेते हैं। दस-पाँच नौकर-चाकर, मुनीम-गुमास्ते और बंगला, मोटरकार, कल-कारखाने देखकर ही हम किसी को भी करोड़पति मान लेते हैं; पर यह कोई नहीं जानता कि जिसे हम करोड़पति समझ रहे हैं, हो सकता है कि वह करोड़ों

का कर्जदार हो। बैंक से करोड़ों रुपये उधार लेकर कल-कारखाने खुल जाते हैं और बाहरी ठाठ-बाट देखकर अन्य लोग भी सेठजी के पास पैसे जमा कराने लगते हैं। इसप्रकार गरीबों, विधवाओं, ब्रह्मचारियों के करोड़ों के ठाठ-बाट से हम उसे करोड़पति मान लेते हैं।

इस संभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जिसे हम करोड़पति साहूकार मान रहे हैं, वह लोगों के करोड़ों रुपये पचाकर दिवाला निकालने की योजना बना रहा हो।

ठीक यही बात सभी आत्माओं को परमात्मा मानने के सन्दर्भ में भी है। हमारा मन इन चलते-फिरते, खाते-पीते, रोते-गाते चेतन आत्माओं को परमात्मा मानने को तैयार नहीं होता, भगवान मानने को तैयार नहीं होता। हमारा मन कहता है कि यदि हम भगवान होते तो फिर दर-दर की ठोकर क्यों खाते फिरते? अज्ञानांधकार में डूबा हमारा अन्तर बोलता है कि हम भगवान नहीं हैं, हम तो दीन-हीन प्राणी हैं; क्योंकि भगवान दीन-हीन नहीं होते और दीन-हीन भगवान नहीं होते।

अबतक हमने भगवान के नाम पर मन्दिरों में विराजमान उन प्रतिमाओं के ही भगवान के रूप में दर्शन किये हैं, जिनके सामने हजारों लोग मस्तक टेकते हैं, भक्ति करते हैं,

पूजा करते हैं; यही कारण है कि हमारा मन डाटे-फटकारे जानेवाले जनसामान्य को भगवान मानने को तैयार नहीं होता। हम सोचते हैं कि ये भी कोई भगवान हो सकते हैं क्या? भगवान तो वे हैं, जिनकी पूजा की जाती है, भक्ति की जाती है। सच बात तो यह है कि हमारा मन ही कुछ ऐसा बन गया है कि उसे यह स्वीकार नहीं कि कोई दीन-हीन जन भगवान बन जावे। अपने आराध्य को दीन-हीन दशा में देखना भी हमें अच्छा नहीं लगता।

भाई, भगवान भी दो तरह के होते हैं— एक तो वे अरहंत और सिद्ध परमात्मा, जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं और उन मूर्तियों के माध्यम से हम उन मूर्तिमान परमात्मा की उपासना करते हैं, पूजन-भक्ति करते हैं; जिस पथ पर वे चले, उस पथ पर चलने का संकल्प करते हैं, भावना भाते हैं। ये अरहंत और सिद्ध कार्यपरमात्मा कहलाते हैं।

दूसरे, देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा भी परमात्मा है, भगवान है; इसे कारणपरमात्मा कहा जाता है।

जो भगवान मूर्तियों के रूप में मन्दिरों में विराजमान हैं; वे हमारे पूज्य हैं, परमपूज्य हैं; अतः हम उनकी पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं, गुणानुवाद करते हैं; किन्तु देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय

है; अत: निज भगवान को जानना, पहिचानना और उसका ध्यान करना ही उसकी आराधना है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति इस निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है; क्योंकि निश्चय से निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है, उसे ही निज मानना, 'यही मैं हूँ'—ऐसी प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और उसका ही ध्यान करना, उसी में जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना सम्यक्चारित्र है।

अष्टद्रव्य से पूजन मन्दिर में विराजमान 'पर-भगवान' की की जाती है और ध्यान शरीररूपी मन्दिर में विराजमान 'निज-भगवान' आत्मा का किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति निज-आत्मा को भगवान मानकर मन्दिर में विराजमान भगवान के समान स्वयं की भी अष्टद्रव्य से पूजन करने लगे तो उसे व्यवहार-विहीन ही माना जायेगा; वह व्यवहारकुशल नहीं, अपितु व्यवहारमूढ़ ही है।

इसीप्रकार यदि कोई व्यक्ति आत्मोपलब्धि के लिए ध्यान भी मन्दिर में विराज़मान भगवान का ही करता रहे तो उसे भी विकल्पों की ही उत्पत्ति होती रहेगी, निर्विकल्प आत्मानुभूति कभी नहीं होगी; क्योंकि निर्विकल्प आत्मानुभूति निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही होती है। निर्विकल्प आत्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र

की उत्पत्ति भी नहीं होगी। —इसप्रकार उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का आरंभ ही नहीं होगा।

जिसप्रकार वह रिक्शावाला बालक रिक्शा चलाते हुए भी करोड़पति है; उसीप्रकार दीन-हीन हालत में होने पर भी हम सभी स्वभाव से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान हैं, कारण परमात्मा हैं— यह जानना-मानना उचित ही है।

इस सन्दर्भ में मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि भारत में अभी किसका राज है?

"कांग्रेस का"

"क्या कहा, कांग्रेस का? नहीं भाई! यह ठीक नहीं है; कांग्रेस तो एक पार्टी है, भारत में राज तो जनता-जनार्दन का है; क्योंकि जनता जिसे चुनती है, वही भारत का शासन चलाता है; अत: राज तो जनता-जनार्दन का ही है।"

उक्त सन्दर्भ में जब हम जनता को जनार्दन (भगवान) कहते हैं तो कोई नहीं कहता कि जनता तो जनता है, वह जनार्दन अर्थात् भगवान कैसे हो सकती है? पर जब तात्त्विक चर्चा में यह कहा जाता है कि हम सभी भगवान हैं तो हमारे चित्त में अनेकप्रकार की शंकाएँ-आशंकाएँ खड़ी हो जाती है, पर भाई गहराई से विचार करें तो स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा ही है— इसमें शंका-आशंकाओं को कोई

स्थान नहीं है।

प्रश्न : यदि यह बात है तो फिर ये ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा वर्तमान में अनन्त दु:खी क्यों दिखाई दे रहे हैं?

उत्तर : अरे भाई, ये सब भूले हुए भगवान हैं, स्वयं को—स्वयं की सामर्थ्य को भूल गये हैं; इसीकारण सुखस्वभावी होकर भी अनन्तदु:खी हो रहे हैं। इनके दु:ख का मूलकारण स्वयं को नहीं जानना, नहीं पहिचानना ही है। जब ये स्वयं को जानेंगे, पहिचानेंगे एवं स्वयं में ही जम जायेंगे, रम जायेंगे; तब स्वयं ही अनन्तसुखी भी हो जावेंगे।

जिसप्रकार वह रिक्शा चलानेवाला बालक करोड़पति होने पर भी यह नहीं जानता है कि 'मैं स्वयं करोड़पति हूँ'— इसीकारण दरिद्रता का दु:ख भोग रहा है। यदि उसे यह पता चल जावे कि मैं करोड़पति हूँ, मेरे करोड़ रुपये बैंक में जमा हैं तो उसका जीवन ही परिवर्तित हो जावेगा। उसीप्रकार जबतक यह आत्मा स्वयं के परमात्मस्वरूप को नहीं जानता-पहिचानता है, तभीतक अनन्तदु:खी है; जब यह आत्मा अपने परमात्मस्वरूप को भलीभाँति जान लेगा, पहिचान लेगा तो इसके दु:ख दूर होने में भी देर न लगेगी।

कंगाल के पास करोड़ों का हीरा हो, पर वह उसे काँच का टुकड़ा समझता हो या चमकदार पत्थर मानता हो तो उसकी दरिद्रता जानेवाली नहीं है; पर यदि वह उसकी सही कीमत जान ले तो दरिद्रता एक क्षण भी उसके पास टिक नहीं सकती, उसे विदा होना ही होगा। इसीप्रकार यह आत्मा स्वयं भगवान होने पर भी यह नहीं जानता कि मैं स्वयं भगवान हूँ। यही कारण है कि यह अनन्तकाल से अनन्त दु:ख उठा रहा है। जिस दिन यह आत्मा यह जान लेगा कि मैं स्वयं भगवान ही हूँ, उस दिन उसके दु:ख दूर होते देर न लगेगी।

इससे यह बात सहज सिद्ध होती है कि होने से भी अधिक महत्त्व जानकारी होने का है, ज्ञान होने का है।

होने से क्या होता है? होने को तो यह आत्मा अनादि से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही है, पर इस बात की जानकारी न होने से, ज्ञान न होने से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान होने का कोई लाभ इसे प्राप्त नहीं हो रहा है।

होने को तो वह रिक्शा चलानेवाला बालक भी गर्भश्रीमन्त है, जन्म से ही करोड़पति है; पर पता न होने से दो रोटियों की खातिर उसे रिक्शा चलाना पड़ रहा है। यही कारण है कि जिनागम में सम्यग्ज्ञान के गीत दिल खोलकर गाये हैं। कहा गया है कि—

"ज्ञान समान न आन जगत में सुख कौ कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण॥[१]

इस जगत में ज्ञान के समान अन्य कोई भी पदार्थ सुख देनेवाला नहीं है। यह ज्ञान जन्म, जरा और मृत्यु रूपी रोग को दूर करने के लिए परम-अमृत है, सर्वोत्कृष्ट औषधि है।"

और भी देखिए—

"जे पूरब शिव गये जाहिं अरु आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनीनाथ कहै हैं॥[२]

आजतक जितने भी जीव अनन्त सुखी हुए हैं अर्थात् मोक्ष गये हैं या जा रहे हैं अथवा भविष्य में जावेंगे, वह सब ज्ञान का ही प्रताप है— ऐसा मुनियों के नाथ जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।"

सम्यग्ज्ञान की तो अनन्त महिमा है ही, पर सम्यग्दर्शन की महिमा जिनागम में उससे भी अधिक बताई गई है, गाई गई है।

क्यों और कैसे?

मानलो रिक्शा चलानेवाला वह करोड़पति बालक अब २५ वर्ष का युवक हो गया है। उसके नाम जमा करोड़ रुपयों की अवधि समाप्त हो गई है, फिर भी कोई व्यक्ति बैंक से

---

१. पण्डित दौलतराम : छहढाला, चतुर्थ ढाल, छन्द ४
२. वही, चतुर्थ ढाल, छन्द ८

रुपये लेने नहीं आया। अत: बैंक ने समाचार-पत्रों में सूचना प्रकाशित कराई कि अमुक व्यक्ति के इतने रुपये बैंक में जमा हैं, वह एक माह के भीतर आकर ले जावे। यदि कोई व्यक्ति एक माह के भीतर नहीं आया तो लावारिस समझकर रुपये सरकारी खजाने में जमा करा दिये जावेंगे।

उस समाचार को उस युवक ने भी पढ़ा और उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा, पर उसकी वह प्रसन्नता क्षणिक साबित हुई; क्योंकि अगले ही क्षण उसके हृदय में संशय के बीज अंकुरित हो गये।

वह सोचने लगा कि मेरे नाम इतने रुपये बैंक में कैसे हो सकते हैं? मैंने तो कभी जमा कराये ही नहीं। मेरा तो किसी बैंक में कोई खाता भी नहीं है। फिर भी उसने वह समाचार दुबारा बारीकी से पढ़ा तो पाया की वह नाम तो उसी का है, पिता के नाम के स्थान पर भी उसी के पिता का नाम अंकित है; कुछ आशा जागृत हुई, किन्तु अगले क्षण ही उसे विचार आया कि हो सकता हैं, इसी नाम का कोई दूसरा व्यक्ति हो और सहज संयोग से ही उसके पिता का नाम भी यही हो। इसप्रकार वह फिर शंकाशील हो उठा।

इसप्रकार जानकर भी उसे प्रतीति नहीं हुई, इस बात का विश्वास जागृत नहीं हुआ कि ये रुपये मेरे ही हैं। अत: जान लेने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। इससे सिद्ध होता है कि

प्रतीति बिना, विश्वास बिना जान लेने मात्र से भी कोई लाभ नहीं होता। अत: ज्ञान से भी अधिक महत्त्व श्रद्धान का है, विश्वास का है, प्रतीति का है।

इसीप्रकार शास्त्रों में पढ़कर हम सब यह जान तो लेते हैं कि आत्मा ही परमात्मा है (अप्पा सो परमप्पा), पर अन्तर में यह विश्वास जागृत नहीं होता कि मैं स्वयं ही परमात्मस्वरूप हूँ, परमात्मा हूँ, भगवान हूँ। यही कारण है कि यह बात जान लेने पर भी कि मैं स्वयं परमात्मा हूँ, सम्यक्श्रद्धान बिना दु:ख का अन्त नहीं होता, चतुर्गतिभ्रमण समाप्त नहीं होता, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती।

समाचार-पत्र में उक्त समाचार पढ़कर वह युवक अपने साथियों को भी बताता है। उन्हें समाचार दिखाकर कहता है कि "देखो, मैं करोड़पति हूँ अब तुम मुझे गरीब रिक्शेवाला नहीं समझना।"—इसप्रकार कहकर वह अपना और अपने साथियों का मनोरंजन करता है, एकप्रकार से स्वयं अपनी हँसी उड़ाता है।

इसीप्रकार शास्त्रों में से पढ़-पढ़कर हम स्वयं अपने साथियों को भी सुनाते हैं। कहते हैं—'देखो हम सभी स्वयं भगवान हैं, दीन-हीन मनुष्य नहीं।'—इसप्रकार की आध्यात्मिक चर्चाओं द्वारा हम स्वयं का और समाज का मनोरंजन तो करते हैं, पर सम्यक्श्रद्धान के अभाव में

भगवान होने का सही लाभ प्राप्त नहीं होता, आत्मानुभूति नहीं होती, सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं होती, आकुलता समाप्त नहीं होती।

इसप्रकार अज्ञानीजनों की आध्यात्मिक चर्चा भी आत्मानुभूति के बिना, सम्यग्ज्ञान के बिना, सम्यक्श्रद्धान के बिना मात्र बौद्धिक व्यायाम बनकर रह जाती है।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो जाने के उपरान्त भी जब कोई व्यक्ति पैसे लेने बैंक में नहीं आया तो बैंकवालों ने रेडियो स्टेशन से घोषणा कराई। रेडियो स्टेशन को भारत में आकाशवाणी कहते हैं। अत: आकाशवाणी हुई कि अमुक व्यक्ति के इतने रुपये बैंक में जमा हैं, वह एक माह के भीतर ले जावे, अन्यथा लावारिस समझकर सरकारी खजाने में जमा करा दिये जावेंगे।

आकाशवाणी की उस घोषणा को रिक्शे पर बैठे-बैठे उसने भी सुनी, अपने साथियों को भी सुनाई, पर विश्वास के अभाव में कोई लाभ नहीं हुआ। इसीप्रकार अनेक प्रवक्ताओं से इस बात को सुनकर भी कि हम सभी स्वयं भगवान हैं, विश्वास के अभाव में बात वहीं की वहीं रही। जीवनभर जिनवाणी सुनकर भी, पढ़कर भी, आध्यात्मिक चर्चायें करके भी आत्मानुभूति से अछूते रह गये।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित एवं आकाशवाणी से प्रसारित

उक्त समाचार की ओर जब स्वर्गीय सेठजी के उन अभिन्न मित्र का ध्यान गया, जिन्हें उन्होंने मरते समय उक्त रहस्य की जानकारी दी थी, तो वे तत्काल उस युवक के पास पहुँचे और बोले— "बेटा! तुम रिक्शा क्यों चलाते हो?"

उसने उत्तर दिया— "यदि रिक्शा न चलायें तो खायेंगे क्या?"

उन्होंने समझाते हुए कहा— "भाई तुम तो करोड़पति हो, तुम्हारे तो करोड़ों रुपये बैंक में जमा है।"

अत्यन्त गमगीन होते हुए युवक कहने लगा—

"चाचाजी, आपसे ऐसी आशा नहीं थी; सारी दुनिया तो हमारा मजाक उड़ा ही रही है, पर आप तो बुजुर्ग हैं, मेरे पिता के बराबर हैं; आप भी....।"

वह अपनी बात समाप्त ही न कर पाया था कि उसके माथे पर हाथ फेरते हुए अत्यन्त स्नेह से वे कहने लगे—

"नहीं भाई, मैं तेरी मजाक नहीं उड़ा रहा हूँ। तू सचमुच ही करोड़पति है। जो नाम समाचार-पत्रों में छप रहा है, वह तेरा ही नाम है।"

अत्यन्त विनयपूर्वक वह बोला— "ऐसी बात कहकर आप मेरे चित्त को व्यर्थ ही अशान्त न करें। मैं मेहनत-मजदूरी करके दो रोटियाँ पैदा करता हूँ और आराम से जिन्दगी बसर कर रहा हूँ। मेरी महत्त्वाकांक्षा को जगाकर

आप मेरे चित्त को क्यों उद्वेलित कर रहे हैं। मैंने तो कभी कोई रुपये बैंक में जमा कराये ही नहीं। अत: मेरे रुपये बैंक में जमा कैसे हो सकते हैं?"

अत्यन्त गद्‌गद् होते हुए वे कहने लगे—

"भाई तुम्हें पैसे जमा कराने की क्या आवश्यकता थी? तुम्हारे पिताजी स्वयं बीस वर्ष पहले तुम्हारे नाम एक करोड़ रुपये बैंक में जमा करा गये हैं, जो अब ब्याज सहित दश करोड़ से भी अधिक हो गये होंगे। मरते समय यह बात वे मुझे बता गये थे।"

यह बात सुनकर वह एकदम उत्तेजित हो गया। थोड़ा-सा विश्वास उत्पन्न होते ही उसमें करोड़पतियों के लक्षण उभरने लगे। वह एकदम गर्म होते हुए बोला—

"यदि यह बात सत्य है तो आपने अभीतक हमें क्यों नहीं बताया?"

वे समझाते हुए कहने लगे — "उत्तेजित क्यों होते हो? अब तो बता दिया। पीछे की जाने दो, अब आगे की सोचो।"

"पीछे की क्यों जाने दो? हमारे करोड़ों रुपये बैंक में पड़े रहे और हम दो रोटियों के लिये मुँहताज हो गये। हम रिक्शा चलाते रहे और आप देखते रहे। यह कोई साधारण बात नहीं है, जो ऐसे ही छोड़ दी जावे; आपको इसका

जवाब देना ही होगा।"

"तुम्हारे पिताजी मना कर गये थे।"

"आखिर क्यों?"

"इसलिए कि बीस वर्ष पहले तुम्हें रुपये तो मिल नहीं सकते थे। पता चलने पर तुम रिक्शा भी न चला पाते और भूखों मर जाते।"

"पर उन्होंने ऐसा किया ही क्यों?"

"इसलिए कि नाबालिगी की अवस्था में कहीं तुम यह सम्पत्ति बर्बाद न कर दो और फिर जीवनभर के लिए कंगाल हो जावो। समझदार हो जाने पर तुम्हें ब्याज सहित आठ-दश करोड़ रुपये मिल जावें और तुम आराम से रह सको। तुम्हारे पिताजी ने यह सब तुम्हारे हित में ही किया है। अत: उत्तेजना में समय खराब मत करो। आगे की सोचो।"

इसप्रकार सम्पत्ति सम्बन्धी सच्ची जानकारी और उस पर पूरा विश्वास जागृत हो जाने पर उस रिक्शेवाले युवक का मानस एकदम बदल जाता है, दरिद्रता के साथ का एकत्व टूट जाता है एवं 'मैं करोड़पति हूँ'— ऐसा गौरव का भाव जागृत हो जाता है, आजीविका की चिन्ता न मालूम कहाँ चली जाती है, चेहरे पर सम्पन्नता का भाव स्पष्ट झलकने लगता है।

इसीप्रकार शास्त्रों के पठन, प्रवचनों के श्रवण और

अनेक युक्तियों के अवलम्बन से ज्ञान में बात स्पष्ट हो जाने पर भी अज्ञानीजनों को इसप्रकार का श्रद्धान उदित नहीं होता कि ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकन्द, शक्तियों का संग्रहालय, अनन्त गुणों का गोदाम भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। यही कारण है कि श्रद्धान के अभाव में उक्त ज्ञान का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता।

काललब्धि आने पर किसी आसन्नभव्य जीव को परमभाग्योदय से किसी आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्मा का सहज समागम प्राप्त होता है और वह ज्ञानी धर्मात्मा उसे अत्यन्त वात्सल्यभाव से समझाता है कि हे आत्मन्! तू स्वयं भगवान है, तू अपनी शक्तियों को पहिचान, पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य को देख, सम्पूर्ण जगत पर से दृष्टि हटा और स्वयं में ही समा जा, उपयोग को यहाँ-वहाँ न भटका, अन्तर में जा, तुझे निज परमात्मा के दर्शन होंगे।

ज्ञानी गुरु की करुणा-विगलित वाणी सुनकर वह निकट भव्य जीव कहता है—

"प्रभो! यह आप क्या कह रहे हैं, मैं भगवान कैसे हो सकता हूँ? मैंने तो जिनागम में बताये भगवान बनने के उपाय का अनुसरण आजतक किया ही नहीं है। न जप किया, न तप किया, न व्रत पाले और न स्वयं को जाना-पहिचाना —

ऐसी अज्ञानी-असंयत दशा में रहते हुए मैं भगवान कैसे बन सकता हूँ?''

अत्यन्त स्नेहपूर्वक समझाते हुए ज्ञानी धर्मात्मा कहते हैं—''भाई, ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है।—ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जमजाना, रमजाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एकबार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायगा, लीन हो जायगा, समाधिस्थ हो जायगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख।''

''यदि ऐसी बात है तो आजतक किसी ने क्यों नहीं बताया?''

''जाने भी दे, इस बात को, आगे की सोच।''

''क्यों जाने दें? इस बात को जाने बिना हम अनन्त दु:ख उठाते रहे, स्वयं भगवान होकर भी भोगों के भिखारी बने रहे और किसी ने बताया तक नहीं।''

"अरे भाई, जगत को पता हो तो बताये और ज्ञानी तो बताते ही रहते हैं, पर कौन सुनता है उनकी; काललब्धि आये बिना किसी का ध्यान ही नहीं जाता इस ओर। सुन भी लेते हैं तो इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं, ध्यान नहीं देते। समय से पूर्व बताने से किसी को कोई लाभ भी नहीं होता। अत: अब जाने भी दो पुरानी बातों को, आगे की सोचो। स्वयं के परमात्मस्वरूप को पहिचानो, स्वयं के परमात्मस्वरूप को जानो और स्वयं में समा जावो। सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

कहते-कहते गुरु स्वयं में समा जाते हैं और वह भव्यात्मा भी स्वयं में समा जाता है। जब उपयोग बाहर आता है तो उसके चेहरे पर अपूर्व शान्ति होती है, संसार की थकान पूर्णत: उतर चुकी होती है, पर्याय की पामरता का कोई चिह्न चेहरे पर नहीं होता, स्वभाव की सामर्थ्य का गौरव अवश्य झलकता है।

आत्मज्ञान, श्रद्धान एवं आंशिक लीनता से आरम्भ मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ वह भव्यात्मा चक्रवर्ती की सम्पदा और इन्द्रों जैसे भोगों को भी तुच्छ समझने लगता है।

कहा भी है —

"चक्रवर्ती की सम्पदा अर इन्द्र सारिखे भोग।
कागवीट सम गिनत हैं सम्यग्दृष्टि लोग॥"

पिता के मित्र रिक्शेवाले युवक से यह बात रिक्शा स्टेण्ड पर हीं कर रहे थे। उनकी यह सब बात रिक्शे पर बैठे-बैठे ही हो रही थी। इतने में एक सवारी ने आवाज दी—

"ऐ रिक्शेवाले! स्टेशन चलेगा?"

उसने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया—"नहीं।"

"क्यों? चलो न भाई, जरा जल्दी जाना है, दो रुपये की जगह पाँच रुपये ले लेना, पर चलो, जल्दी चलो।"

"नहीं; नहीं जाना, एक बार कह दिया न।"

"कह दिया पर....."

उसकी बात जाने दो, अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि क्या वह अब भी सवारी ले जायेगा? यदि ले जायेगा तो कितने में? दस रुपये में, बीस रुपये में.....?

क्या कहा, कितने ही रुपये दो, पर अब वह रिक्शा नहीं चलायेगा।

'क्यों?'

"क्योंकि अब वह करोड़पति हो गया है।"

"अरे भाई, अभी तो मात्र पता ही चला है, अभी रुपये हाथ में कहाँ आये हैं?"

"कुछ भी हो, अब उससे रिक्शा नहीं चलेगा; क्योंकि करोड़पति रिक्शा नहीं चलाया करते।"

इसीप्रकार जब किसी व्यक्ति को आत्मानुभवपूर्वक

सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो जाता है, तब उसके आचरण में भी अन्तर आ ही जाता है। यह बात अलग है कि वह तत्काल पूर्ण संयमी या देश संयमी नहीं हो जाता, फिर भी उसके जीवन में अन्याय, अभक्ष्य एवं मिथ्यात्व पोषक क्रियाएँ नहीं रहती हैं। उसका जीवन शुद्ध सात्विक हो जाता है, उससे हीन काम नहीं होते।

वह युवक सवारी लेकर स्टेशन तो नहीं जावेगा, पर उस सेठ के घर रिक्शा वापिस देने और किराया देने तो जावेगा ही, जिसका रिक्शा वह किराये पर लाया था। प्रतिदिन शाम को रिक्शा और किराये के दस रुपये दे आने पर ही उसे अगले दिन रिक्शा किराये पर मिलता था। यदि कभी रिक्शा और किराया देने न जा पावे तो सेठ घर पर आ धमकता था, मुहल्लेवालों के सामने उसकी इज्जत उतार देता था।

आज वह सेठ के घर रिक्शा देने भी न जावेगा। उसे वहीं ऐसा ही छोड़कर चल देगा। तब फिर क्या वह सेठ उसके घर जायेगा?

हाँ जायेगा, अवश्य जायेगा; पर रिक्शा लेने नहीं, रुपये लेने नहीं; अपनी लड़की का रिश्ता लेकर जायेगा; क्योंकि यह पता चल जाने पर कि इसके करोड़ों रुपये बैंक में जमा हैं, कौन उसे अपनी कन्या देकर कृतार्थ न होना चाहेगा?

इसीप्रकार किसी व्यक्ति को आत्मानुभव होता है तो

उसके अन्तर की हीनभावना तो समाप्त हो ही जाती है, पर सातिशय पुण्य के प्रताप से लोक में भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, लोक भी उसके सद्व्यवहार से प्रभावित होता है। ऐसा सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

ज्ञात हो जाने पर भी जिसप्रकार कोई असभ्य व्यक्ति उस रिक्शेवाले से रिक्शेवालों जैसा व्यवहार भी कदाचित् कर सकता है; उसीप्रकार कुछ अज्ञानीजन उन ज्ञानी धर्मात्माओं से भी कदाचित् असद्व्यवहार कर सकते हैं, करते भी देखे जाते हैं; पर यह बहुत कम होता है।

यद्यपि अभी वह वही मैला-कुचेला फटा कुर्ता पहने है, मकान भी टूटा-फूटा ही है; क्योंकि ये सब तो तब बदलेंगे, जब रुपये हाथ में आ जावेंगे। कपड़े और मकान श्रद्धा-ज्ञान से नहीं बदले जाते, उनके लिए तो पैसे चाहिए, पैसे; तथापि उसके चित्त में आप कहीं भी दरिद्रता की हीनभावना का नामोनिशान भी नहीं पायेंगे।

उसीप्रकार जीवन तो सम्यक्चारित्र होने पर बदलेगा, अभी तो असंयमरूप व्यवहार ही ज्ञानी धर्मात्मा के देखा जाता है, पर उनके चित्त में रंचमात्र भी हीनभावना नहीं रहती, वे स्वयं को भगवान ही अनुभव करते हैं।

जिसप्रकार उस युवक के श्रद्धा और ज्ञान में तो यह बात एक क्षण में आ गई कि मैं करोड़पति हूँ; पर करोड़पतियों

जैसे रहन-सहन में अभी वर्षों लग सकते हैं। पैसा हाथ में आ जाय, तब मकान बनना आरम्भ हो, उसमें भी समय तो लगेगा ही। उस युवक को अपना जीवन-स्तर उठाने की जल्दी तो है, पर अधीरता नहीं; क्योंकि जब पता चल गया है तो रुपये भी अब मिलेंगे ही; आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों; बरसों लगनेवाले नहीं हैं।

उसीप्रकार श्रद्धा और ज्ञान तो क्षणभर में परिवर्तित हो जाते हैं, पर जीवन में संयम आने में समय लग सकता है। संयम धारण करने की जल्दी तो प्रत्येक ज्ञानी धर्मात्मा को रहती ही है, पर अधीरता नहीं होती; क्योंकि जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान और संयम की रुचि (अंश) जग गई है तो इसी भव में, इस भव में नहीं तो अगले भव में, उसमें नहीं तो उससे अगले भव में संयम भी आयेगा ही; अनन्तकाल यों ही जानेवाला नहीं है।

अत: हम सभी का यह परम पावन कर्त्तव्य है कि हम सब स्वयं को सही रूप में जानें, सही रूप में पहिचानें, इस बात का गहराई से अनुभव करें कि स्वभाव से तो हम सभी सदा से ही भगवान ही हैं— इसमें शंका-आशंका के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। रही बात पर्याय की पामरता की, सो जब हम अपने परमात्मस्वरूप का सम्यग्ज्ञान कर उसी में अपनापन स्थापित करेंगे, अपने ज्ञानोपयोग (प्रगटज्ञान)

को भी सम्पूर्णत: उसी में लगा देंगे, स्थापित कर देंगे और उसी में लीन हो जावेंगे, जम जावेंगे, रम जावेंगे, समा जावेंगे, समाधिस्थ हो जावेंगे तो पर्याय में भी परमात्मा (अरहंत-सिद्ध) बनते देर न लगेगी।

अरे भाई! जैनदर्शन के इस अद्भुत परमसत्य को एकबार अन्तर की गहराई से स्वीकार तो करो कि स्वभाव से हम सभी भगवान ही हैं। पर और पर्याय से अपनापन तोड़कर एकबार द्रव्य-स्वभाव में अपनापन स्थापित तो करो, फिर देखना अन्तर में कैसी क्रान्ति होती है, कैसी अद्भुत और अपूर्व शान्ति उपलब्ध होती है, अतीन्द्रिय आनन्द का कैसा झरना झरता है।

इस अद्भुत सत्य का आनन्द मात्र बातों से आनेवाला नहीं है, अन्तर में इस परमसत्य के साक्षात्कार से ही अतीन्द्रिय आनन्द का दरिया उमड़ेगा।

उमड़ेगा, अवश्य उमड़ेगा; एकबार सच्चे हृदय से सम्पूर्णत: समर्पित होकर निज भगवान आत्मा की आराधना तो करो, फिर देखना क्या होता है? बातों में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है। अत: यह मंगलभावना भाते हुए विराम लेता हूँ कि सभी आत्माएँ स्वयं के परमात्मस्वरूप को जानकर, पहिचानकर स्वयं में ही जमकर, रमकर अनन्त सुख-शान्ति को शीघ्र ही प्राप्त करें। ■

अपने में अपनापन

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही सच्चा मोक्षमार्ग है, अनादिकालीन अनंत दु:ख को दूर करने का एकमात्र उपाय है। अत: हमें इन्हें समझने में पूरी शक्ति लगाना चाहिए, इन्हें प्राप्त करने के लिए प्राणपण से जुट जाना चाहिए।

इनके स्वरूप को समझने के लिए हमें जैनदर्शन में प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्था को समझना होगा; क्योंकि तत्त्वार्थ के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। तत्त्वार्थ सात होते हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीवतत्त्व अनादि-निधन द्रव्यरूप भगवान है और मोक्षतत्त्व सादि प्रगट दशारूप भगवान है। भगवान स्वभावी आत्मा का प्रकटरूप से पर्याय में भगवान बनना ही मोक्ष प्राप्त करना है। यही कारण है कि जैनदर्शन कहता है कि स्वभाव से तो हम सभी भगवान हैं ही, पर यदि अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जायें, रम जायें तो प्रकटरूप से पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं।

अपने को पहिचानना, जानना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तथा अपने में ही जम जाना, रम जाना

सम्यक्चारित्र है। इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है, सुखी होने का सच्चा उपाय है।

यद्यपि यह भगवान आत्मा अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है, अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है; तथापि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जिन गुणों की चर्चा जिनागम में सर्वाधिक प्राप्त है, उनमें श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण प्रमुख हैं।

इनमें ज्ञान गुण का कार्य सत्यासत्य का निर्णय करना है, श्रद्धा गुण का कार्य अपने और पराये की पहिचान कर अपने में अपनापन स्थापित करना है और अच्छे-बुरे का निर्णय हम अपने राग के अनुसार करते हैं। ध्यान रहे, राग चारित्र गुण की विकारी पर्याय है।

इस जगत में कोई भी वस्तु अच्छी-बुरी नहीं है। उनमें अच्छे-बुरे का निर्णय हम अपने रागानुसार ही करते हैं। रंग न गोरा अच्छा होता है न साँवला, जिसके मन जो भा जाय, उसके लिए वही अच्छा है। हम गोरे रंग के लिए तरसते हैं और गोरी चमड़ी वाले यूरोपियन घंटों नंगे बदन धूप में इसलिए पड़े रहते हैं कि उनका रंग थोड़ा-बहुत हम जैसा साँवला हो जावे।

दूसरों की बात जाने भी दें, हम स्वयं अपना चेहरा गोरा और बाल काले पसन्द करते हैं। जरा विचार तो करो, यदि

चेहरे जैसे बाल और बालों जैसा चेहरा हो जावे तो क्या हो? तात्पर्य यह है कि जगत में कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं है। अच्छे-बुरे की कल्पना हम स्वयं अपने रागानुसार ही करते हैं।

इस जगत में न अच्छे की कीमत है न सच्चे की, अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि सर्वस्व-समर्पण अपनों के प्रति ही होता है। यही कारण है कि मुक्ति के मार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रद्धा गुण है, श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है।

पर और पर्याय से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही सम्यग्दर्शन है, निज भगवान आत्मा को निज जानना ही सम्यग्ज्ञान है और निज भगवान आत्मा में ही जमना-रमना सम्यक्-चारित्र है।

यहाँ आप कह सकते हैं कि विद्वानों का काम तो सच्चाई और अच्छाई की कीमत बताना है और आप कह रहे हैं कि इस जगत में न सच्चाई की कीमत है और न अच्छाई की।

भाई, हम क्या कह रहे हैं, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

एक करोड़पति सेठ था। उसका एक इकलौता बेटा था।

"कैसा?"

"जैसे कि करोड़पतियों के होते हैं, सातों व्यसनों में पारंगत।"

उसके पड़ोस में एक गरीब व्यक्ति रहता था। उसका भी एक बेटा था।

"कैसा?"

"जैसा कि सेठ अपने बेटे को चाहता था, सर्वगुणसम्पन्न, पढ़ने-लिखने में होशियार, व्यसनों से दूर, सदाचारी, विनयशील।"

सेठ रोज सुबह उठता तो पड़ोसी के बेटे की भगवान जैसी स्तुति करता और अपने बेटे को हजार गालियाँ देता। कहता—"देखो वह कितना होशियार है, प्रतिदिन प्रातः काल मन्दिर जाता है, समय पर सोकर उठता है और एक तू है कि अभी तक सो रहा है। अरे नालायक मेरे घर में पैदा हो गया है, सो गुलछर्रे उड़ा रहा है, कहीं और पैदा होता तो भूखों मरता, भूखों..... अरे अभागे .....।"

बीच में ही बात काटते हुए पुत्र कहता—"पिताजी, और चाहे जो कुछ कहो, पर अभागा नहीं कह सकते।"

"क्यों?"

"क्योंकि, जिसे आप जैसा कमाऊ बाप मिला हो, वह अभागा कैसे हो सकता है? अभागे तो आप हैं, जिसे मुझ जैसा गमाऊ बेटा मिला है।"

एक दिन पड़ौसी का बेटा स्कूल नहीं गया। उसे घर पर देखकर सेठ ने कहा—"बेटा! आज स्कूल क्यों नहीं गये?"

बच्चे ने उत्तर दिया—"मास्टरजी कहते हैं कि स्कूल में ड्रेस पहिनकर आओ और पुस्तकें लेकर आओ। मैं पापा से कहता हूँ तो उत्तर मिलता है कि कल ला देंगे, पर उनका कल कभी आता ही नहीं है, आज एक माह हो गया। अत: आज मैं स्कूल ही नहीं गया हूँ।"

पुचकारते हुए सेठ बोला—"बेटा चिन्ता की कोई बात नहीं। अपना वो नालायक पप्पू है न। वह हर माह नई ड्रेस सिलाता है और पुरानी फेंक देता है। पुस्तकें भी हर माह फाड़ता है और नई खरीद लाता है। बहुत-सी ड्रेसें और पुस्तकें पड़ी हैं। ले जावो।"

अब जरा विचार कीजिए, सेठ जिसकी भगवान जैसी स्तुति करता है, उसे अपने नालायक बेटे के उतारन के कपड़े और फटी पुस्तकें देने का भाव आता है और अपने उस नालायक बेटे को करोड़ों की सम्पत्ति दे जाने का पक्का विचार है। कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं आया कि थोड़ी-बहुत किसी और को भी दे दूँ।

अब आप ही बताइये कि जगत में अपने की कीमत है या अच्छे की, सच्चे की? अच्छा और सच्चा तो पड़ौसी का बेटा है, पर वह अपना नहीं; अत: उसके प्रति राग भी सीमित ही है, असीम नहीं। अपना बेटा यद्यपि अच्छा भी नहीं है, सच्चा भी नहीं है; पर अपना है; अपना होने से उससे राग

भी असीम है, अनन्त है।

इससे सिद्ध होता है कि अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

आजतक इस आत्मा ने देहादि पर-पदार्थों में ही अपनापन मान रखा है। अत: उन्हीं की सेवा में सम्पूर्णत: समर्पित है। निज भगवान आत्मा में एक क्षण को भी अपनापन नहीं आया है; यही कारण है कि उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है। देह की संभाल में हम चौबीसों घंटे समर्पित हैं और भगवान आत्मा के लिए हमारे पास सही मायनों में एक क्षण भी नहीं है। भगवान आत्मा अनन्त उपेक्षा का शिकार होकर सोतेला बेटा बनकर रह गया है।

हम इस जड़ नश्वर शरीर के प्रति जितने सतर्क रहते हैं कि आत्मा के प्रति हमारी सतर्कता उसके सहस्त्रांश भी दिखाई नहीं देती।

यदि यह जड़ शरीर अस्वस्थ हो जावे तो हम डॉक्टर के पास दौड़े-दौड़े जाते हैं; जो वह कहता है, उसे अक्षरश: स्वीकार करते हैं; जैसा वह कहता है, वैसे ही चलने को निरन्तर तत्पर रहते हैं; उससे किसी प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं करते। यदि वह कहता है कि तुम्हें कैंसर है तो बिना मीन-मेख किये स्वीकार कर लेते हैं। वह कहे ऑपरेशन अतिशीघ्र होना चाहिए और एक लाख रुपये खर्च होंगे, तो

हम कुछ भी आना-कानी नहीं करते, मकान बेचकर भी भरपूर सीजन के समय ऑपरेशन कराने को तैयार रहते हैं। डॉक्टर की भरपूर विनय करते हैं, लाखों रुपये देकर भी उनका आजीवन एहसान मानते हैं। पर जब आत्मा का डॉक्टर बताता है कि आपको मिथ्यात्व का भंयकर कैंसर हो गया है, उसका शीघ्र इलाज होना चाहिए तो उसकी बात पर एक तो हम ध्यान ही नहीं देते और देते भी हैं तो हजार बहाने बनाते हैं। प्रवचन का समय अनुकूल नहीं है, हम बहुत दूर रहते हैं, काम के दिनों (वीकडेज) में कैसे आ सकते हैं? न मालूम कितने बहाने खड़े कर देते हैं।

आखिर शरीर के इलाज की इतनी अपेक्षा और आत्मा के इलाज् की इतनी उपेक्षा क्यों? इसका एकमात्र कारण शरीर में अपनापन और भगवान आत्मा में परायापन ही तो है। जबतक शरीर से अपनापन टूटेगा नहीं और भगवान आत्मा में अपनापन आएगा नहीं, तबतक शरीर की उपेक्षा और भगवान आत्मा के प्रति सर्वस्व समर्पण संभव नहीं है। सर्वस्व समर्पण के बिना आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन संभव नहीं है। यदि हमें आत्मदर्शन करना है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो देह के प्रति एकत्व तोड़ना ही होगा, आत्मा में एकत्व स्थापित करना ही होगा।

देह से भिन्नता एवं आत्मा में अपनापन स्थापित करने

के लिए देह की मलिनता और आत्मा की महानता के गीत गाने से काम नहीं चलेगा, देह के परायेपन और आत्मा के अपनेपन पर गहराई से मंथन करना होगा।

"पल रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादि तैं मैली।
नव द्वार बहें घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥[१]

कफ और चर्बी आदि से मैली यह देह मांस, खून, पीप आदि मलों की थैली है। इसमें नाक, कान, आँख नौ दरवाजे हैं; जिनसे निरन्तर घृणास्पद पदार्थ बहते रहते हैं। हे आत्मन्! तू इसप्रकार की घिनावनी देह से यारी क्यों करता है?"

"इस देह के संयोग में, जो वस्तु पलभर आयगी।
वह भी मलिन मल-मूत्रमय, दुर्गन्धमय हो जायगी॥
किन्तु रह इस देह में, निर्मल रहा जो आतमा।
वह ज्ञेय है श्रद्धेय है, बस ध्येय भी वह आतमा॥[२]"

इस देह की अपवित्रता की बात कहाँ तक कहें? इसके संयोग में जो भी वस्तु एक पल भर के लिए ही क्यों न आये, वह भी मलिन हो जाती है, मल-मूत्रमय हो जाती है, दुर्गन्धमय हो जाती है। सब पदार्थों को पवित्र कर देनेवाला जल भी इसका संयोग पाकर अपवित्र हो जाता है। कुएँ के

---

१. पण्डित दौतलराम : छहढाला, पाँचवी ढाल, अशुचिभावना
२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : बारहभावना, एकत्वभावना

प्रासुक जल और अठपहरे शुद्ध घी में मर्यादित आटे से बना हलुआ भी क्षणभर को पेट में चला जावे और तत्काल वमन हो जावे तो उसे कोई देखना भी पंसद नहीं करता। ऐसी अपवित्र है यह देह और इसमें रहनेवाला भगवान आत्मा परमपवित्र पदार्थ है।

"आनन्द का रसकन्द सागर शान्ति का निज आतमा।
सब द्रव्य जड़ पर ज्ञान का घनपिण्ड केवल आतमा॥[१]"

यह परम पवित्र भगवान आत्मा आनन्द का रसकंद ज्ञान का घनपिण्ड, शान्ति का सागर, गुणों का गोदाम और अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है।

इसप्रकार हमने देह की अपवित्रता तथा भगवान आत्मा की पवित्रता और महानता पर बहुत विचार किया है, पढ़ा है, सुना है; पर देह से हमारा ममत्व रंचमात्र भी कम नहीं हुआ और आत्मा में रंचमात्र भी अपनापन नहीं आया। परिणामस्वरूप हम वहीं के वहीं खड़े हैं, एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

देह से अपनापन नहीं टूटने से राग भी नहीं टूटता; क्योंकि जो अपना है, वह कैसा भी क्यों न हो, उसे कैसे छोड़ा जा सकता? इसीप्रकार आत्मा में अपनापन स्थापित हुए बिना उससे अंतरंग स्नेह भी नहीं उमड़ता। अतः हमारे

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : बारहभावना, अशुचिभावना

चिन्तन का बिन्दु आत्मा का अपनापन और देह का परायापन होना चाहिए। इसी से आत्मा में एकत्व स्थापित होगा, देह से भिन्नता भासित होगी।

निज भगवान आत्मा में अपनापन ही सम्यग्दर्शन है और निज भगवान आत्मा से भिन्न देहादि पदार्थों में अपनापन ही मिथ्यादर्शन है।

अपनेपन की महिमा अद्भुत है। अपनेपन के साथ अभूतपूर्व उल्लसित परिणाम उत्पन्न होता है। आप प्लेन में बैठे विदेश जा रहे हों; हजारों विदेशियों के बीच किसी भारतीय को देखकर आपका मन उल्लसित हो उठता है। जब आप उससे पूछते हैं कि आप कहाँ से आये हैं? तब वह यदि उसी नगर का नाम ले दे, जिस नगर के आप हैं तो आपका उल्लास द्विगुणित हो जाता है। यदि वह आपकी ही जाति का निकले तो फिर कहना ही क्या है? यदि वह दूसरी जाति, दूसरे नगर या दूसरे देश का निकले तो उत्साह ठंडा पड़ जाता है।

इस उल्लास और ठंडेपन का एकमात्र कारण अपनेपन और परायेपन की अनुभूति ही तो है। अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है; यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दु:खों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दु:ख उठा रहा है और अपने को जानकर, पहिचानकर, अपने में ही जमकर, रमकर, अनन्त सुखी हो सकता है।

दु:खों से मुक्ति के मार्ग में अपने में अपनापन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

एक सेठ था और उसका एक दो-ढाई वर्ष का इकलौता बेटा। घर के सामने खेलते-खेलते वह कुछ आगे बढ़ गया। घर की खोज में वह दिग्भ्रमित हो गया और पूर्व के बजाय पश्चिम की ओर बढ़ गया। बहुत खोजने पर भी उसे अपना घर नहीं मिला। घरवालों ने भी बहुत खोज की, पर पार न पड़ी। वह रात उसे गली-कूचों में ही रोते-रोते बितानी पड़ी। प्रात:काल तक उसकी हालत ही बदल गई थी, कपड़े गंदे हो गये और चेहरा मलिन, दीन-हीन।

बहुत कुछ प्रयत्नों के बाद भी न उसे घर मिला और न घरवालों को वह। भीख मांगकर पेट भरने के अतिरिक्त कोई रास्ता न रहा। थोड़ा बड़ा होने पर लोग कहने लगे—काम क्यों नहीं करता? आखिर एक हलवाई की दुकान पर बर्तन साफ करने का काम करने लगा।

पुत्र के वियोग में सेठ का घर भी अस्त-व्यस्त हो गया था। अब न किसी को खाने-पीने में रस रह गया था और न आमोद-प्रमोद का प्रसंग ही। घर में सदा मातम का वातावरण ही बना रहता। ऐसे घरों में घरेलू नौकर भी नहीं टिकते; क्योंकि वे भी तो हंसी-खुशी के वातावरण में रहना चाहते हैं। अत: उनका चौका-बर्तन करने वाला नौकर भी नौकरी छोड़ कर चला गया था। अत: उन्हें एक घरेलू नौकर की आवश्यकता थी। आखिर उस सेठ ने उसी हलवाई से नौकर की व्यवस्था करने को कहा और वह सात-आठ साल का बालक अपने ही घर में नौकर बन कर आ गया।

अब माँ बेटे के सामने थी और बेटा माँ के सामने; पर माँ बेटे के वियोग में दु:खी थी और बेटा माँ-बाप के वियोग में। माँ भोजन करने बैठती तो मुँह में कौर ही नहीं दिया जाता, बेटे को याद कर-करके रोती-बिलखती हुई कहती—

"न जाने मेरा बेटा कहाँ होगा, कैसी हालत में होगा? होगा भी या नहीं? या किसी के यहाँ चौका-बर्तन कर रहा होगा?"

वहीं खड़ा बेटा एक रोटी माँगता तो झिड़क देती—

"जा अभी काम कर, बचेगी तो फिर दूँगी। काम तो करता नहीं और बार-बार रोटी माँगने आ जाता है।"

उसी बेटे के लिए रोती-बिलखती और उसे ही रोटी

माँगने पर झिड़कती। क्या है यह सब? आखिर वह माँ दु:खी क्यों है?

क्या कहा, बेटे के अभाव में?

बेटा तो सामने है। बेटे के अभाव में नहीं, बेटे में अपनेपन के अभाव में ही वह माँ परेशान हो रही है, दु:खी हो रही है।

उसका बेटा नहीं खोया है, बेटा तो सामने है, बेटे की पहिचान खो गई है, बेटे में अपनापन खो गया है। मात्र पहिचान खो जाने, अपनापन खो जाने का ही यह दुष्परिणाम है कि वह अनन्त दु:ख के समुद्र में डूब गई है, उसकी सम्पूर्ण सुख-शान्ति समाप्त हो गई है।

उसे सुखी होने के लिए बेटे को नहीं खोजना, उसमें अपनापन खोजना है।

एक दिन पड़ोसिन ने कहा—"अम्माजी। एक बात कहूँ, बुरा न मानना यह लड़का अभी बहुत छोटा है, इससे काम जरा कम लिया करें और खाना भी थोड़ा अच्छा दिया करें, समय पर दिया करें।"

सेठानी एकदम क्रोधित होती हुई बोली—"क्या कहती हो? यह काम करता ही क्या है? दिन भर पड़ा रहता है और खाता भी कितना है? तुम्हें क्या पता—दिन भर चरता ही रहता है।"

बहुत कुछ समझाने पर भी वह सेठानी यह मानने को तैयार ही नहीं होती कि बच्चे के साथ कुछ दुर्व्यवहार किया जा रहा है। क्या है—इस सबका कारण? एकमात्र अपनेपन का अभाव।

कहते हैं—मातायें बहुत अच्छी होती हैं। होती होंगी, पर मात्र अपने बच्चों के लिए, पराये बच्चों के साथ उनका व्यवहार देखकर तो शर्म से माथा झुक जाता है। यह सभी माताओं की बात नहीं है; पर जो ऐसी हैं, उन्हें अपने व्यवहार पर एक बार अवश्य विचार करना चाहिए।

एकबार एक दूसरी पड़ोसिन ने बड़े ही संकोच के साथ कहा—

"अम्माजी! मेरे मन में एक बात बहुत दिनों से आ रही है, आप नाराज न हों तो कहूँ? बात यह है कि यह नौकर शकल से और अकल से सब बातों में अपना पप्पू जैसा ही लगता है। वैसा ही गोरा-भूरा, वैसे ही घुंघराले बाल; सब-कुछ वैसा ही तो है, कुछ भी तो अन्तर नहीं और यदि आज वह होता तो होता भी इतना ही बड़ा।"

उसकी बात सुनकर सेठानीजी उल्लासित हो उठीं, उनके लाड़ले बेटे की चर्चा जो हो रही थी, कहने लगीं—"लगता तो मुझे भी ऐसा ही है। इसे देखकर मुझे अपने बेटे की और अधिक याद आ जाती है। ऐसा लगता

है, जैसे यह मेरा ही बेटा हो।''

सेठानी की बात सुनकर उत्साहित होती हुई पड़ोसिन बोली—''अम्माजी! अपने पप्पू को खोये आज आठ वर्ष हो गये हैं, अबतक तो मिला नहीं; और न अब मिलने की आशा है। उसके वियोग में कबतक दु:खी होती रहोगी? मेरी बात मानो तो आप इसे ही गोद क्यों नहीं ले लेती?''

उसने इतना ही कहा था कि सेठानी तमतमा उठी—

''क्या बकती है? न मालूम किस कुजात का होगा यह?''

सेठानी के इस व्यवहार का एकमात्र कारण बेटे में अपनेपन का अभाव ही तो है। वैसे तो वह बेटा उसी का है, पर उसमें अपनापन नहीं होने से उसके प्रति व्यवहार बदलता नहीं है।

अपना होने से क्या होता है? जबतक अपनापन न हो, तबतक अपने होने का कोई लाभ नहीं मिलता। यहाँ अपने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अपनापन है।

भाई, यही हालत हमारे भगवान आत्मा की हो रही है। यद्यपि वह अपना ही है, अपना ही क्या, अपन स्वयं ही भगवान आत्मा हैं, पर भगवान आत्मा में अपनापन नहीं होने से उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है, उसके साथ पराये बेटे जैसा व्यवहार हो रहा है। वह अपने ही घर में नौकर बन कर रह गया है।

यही कारण है कि आत्मा की सुध-बुध लेने की अनन्त प्रेरणायें भी कारगर नहीं हो रही हैं, अपनापन आये बिना कारगर होंगी भी नहीं। इसलिए जैसे भी संभव हो, अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही एकमात्र कर्तव्य है, धर्म है।

इसीप्रकार चलते-चलते वह लड़का अठारह वर्ष का हो गया। एक दिन इस बात का कोई ठोस प्रणाम उपलब्ध हो गया कि वह लड़का उन्हीं सेठजी का है। उक्त सेठानी को भी यह विश्वास हो गया कि वह सचमुच उसका ही लाड़ला बेटा है।

अब आप बताइये— अब क्या होगा?

होगा क्या? वह सेठानी जोर-जोर से रोने लगी। सेठजी ने समझाते हुए कहा—

"अब क्यों रोती है? अब तो हँसने का समय आ गया है, अब तो तुझे तेरा पुत्र मिल गया है।"

रोते-रोते ही सेठानी बोली—"मेरे बेटे का बचपन बर्तन मलते-मलते यों ही अनन्त कष्टों में निकल गया है, न वह पढ़-लिख पाया है, न खेल-खा पाया।

हाय राम! मेरे ही आँखों के सामने उसने अनन्त कष्ट भोगे हैं, न मैंने उसे ढंग का खाना ही दिया और न पलभर निश्चिंत हो आराम ही करने दिया, जब देखो तब काम में ही लगाये रखा।"

जो सेठानी इस बात को स्वीकार करने को कतई तैयार न थी कि वह उस बालक से बहुत काम कराती है और खाना भी ढंग का नहीं देती है, वही अब इकबालिया बयान दे रही है कि मैंने बहुत काम कराया है और खाना भी ढंग का नहीं दिया।

यह सब अपनेपन का ही माहात्म्य है। अब क्या उसे यह समझाने की आवश्यकता है कि जरा काम कम लिया करें और खाना भी अच्छा दिया करें। अब काम का तो कोई सवाल ही नहीं रह गया है और खाने की भी क्या बात है, अब तो उसकी सेवा में सबकुछ हाजिर है। व्यवहार में इस परिवर्तन का एकमात्र कारण अपनेपन की पहिचान है, अपनेपन की भावना है।

इसीप्रकार जबतक निज भगवान आत्मा में अपना अपनापन स्थापित नहीं होगा, तबतक उसके प्रति अपनेपन का व्यवहार भी संभव नहीं है।

इन देहादिपरपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दु:खों को दूर करने और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। ■

अपनी खोज

अपने में अपनापन ही धर्म है और पर में अपनापन ही अधर्म है; इसलिए ज्ञानी धर्मात्मा निरन्तर इसप्रकार की भावना भाते रहते हैं कि—

मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय।
है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय॥
धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय।
है धर्म निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय॥
मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं॥[१]

धर्मादि परद्रव्यों एवं मोहादि विकारीभावों में से अपनापन छोड़कर उपयोगस्वरूपी शुद्ध निज भगवान आत्मा में अपनेपन की दृढ़ भावना ही धर्म है, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति का मार्ग है; अत: निज भगवान आत्मा को जानने-पहिचानने का यत्न करना चाहिए और निज भगवान आत्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न : हम तो बहुत प्रयत्न करते हैं, पर वह भगवान

१. समयसार पद्यानुवाद ३६-३८

आत्मा हमें प्राप्त क्यों नहीं होता?

उत्तर : भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना प्रयत्न करना चाहिए; यदि वैसा और उतना प्रयत्न करें तो भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य ही होती है। सच्ची बात तो यह है कि भगवान आत्मा की प्राप्ति की जैसी तड़फ पैदा होनी चाहिए; अभी हमें वैसी तड़फ ही पैदा नहीं हुई है। यदि अन्तर की गहराई से वैसी तड़फ पैदा हो जावे तो फिर भगवान आत्मा की प्राप्ति में देर ही न लगे।

भगवान आत्मा की प्राप्ति की तड़फवाले व्यक्ति की स्थिति कैसी होती है? इसे हम उस बालक के उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिसकी माँ मेले में खो गई हो। एक पाँच वर्ष का बालक माँ के साथ मेला देखने गया था। मेले की अपार भीड़ में वे दोनों बिछुड़ गये। एक पुलिस चौकी पर माँ पहुँची और उसने बेटा खोने की रिपोर्ट लिखाई; दूसरी पुलिस चौकी पर बेटा पहुँचा और उसने माँ के खोने की रिपोर्ट लिखाना चाही। पर उसकी रिपोर्ट को सही रूप में कोई लिखता ही नहीं है।

इन्सपेक्टर ने कॉंस्टेबल से पूछा—"कौन है?"

कॉंस्टेबल ने उत्तर दिया—"एक खोया हुआ बालक आया है।"

बालक ने बीच में ही टोकते हुए कहा—"इन्सपेक्टर

साहब मैं नहीं, मेरी माँ खोई है; मैं तो आपके सामने ही खड़ा हूँ।''

डपटते हुए काँस्टेबल बोला—''चुप रह, कहीं माँ भी खोती है? खोते तो बच्चे ही हैं।''

आखिर उन्होंने यही रिपोर्ट लिखी कि एक खोया हुआ बालक आया है। जो भी हो; अब बालक से पूछताछ आरम्भ होती है।

''क्यों भाई, तुम्हारा नाम क्या है?''

'पप्पू'

''तुम्हारी माँ का क्या नाम है?''

'मम्मी'

''तुम रहते कहाँ हो?''

''अपने घर में''

बालक के ऐसे उत्तर सुनकर पुलिसवाले आपस में कहते हैं कि जब यह बालक अपनी माँ को पहिचानता ही नहीं है, उसका नाम तक भी नहीं जानता है तो इसकी माँ को कैसे खोजा जाय?

उनकी बातें सुनकर बालक सोचता है कि जिस नाम से मैं माँ को रोजाना बुलाता हूँ, क्या वह नाम, नाम ही नहीं है? मम्मी कहकर जब भी बुलाता हूँ, माँ हाजिर हो जाती है; फिर भी ये लोग कहते हैं कि मैं माँ का नाम भी नहीं

जानता।

बालक यह सोच ही रहा था कि पुलिसवाला फिर पूछने लगता है— "तेरी माँ मोटी है या पतली है, गोरी या काली, लम्बी या ठिगनी?"

बालक ने तो कभी सोचा भी न था कि माताएँ भी छह प्रकार की होती हैं, उसने तो अपनी माँ को कभी इन रूपों में देखा ही न था। उसने तो माँ का माँपन ही देखा था, रूप-रंग नहीं, कद भी नहीं। वह कैसे बताये कि उसकी माँ गोरी है या काली, लम्बी है या ठिगनी, मोटी या पतली है?

ये तो सापेक्ष स्थितियाँ हैं।

दूसरों से तुलना करने पर ही किसी गोरा या काला कहा जा सकता है, लम्बा या ठिगना कहा जा सकता है, मोटा या पतला कहा जा सकता है।

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि मैं गोरा हूँ या काला, लम्बा हूँ या ठिगना, मोटा हूँ या पतला?

मैं तो जैसा हूँ, वैसा ही हूँ; न गोरा हूँ, न काला हूँ; न लम्बा हूँ, न ठिगना हूँ और न मोटा ही हूँ, न पतला ही। मेरी बगल में एक अंग्रेज को खड़ा कर दें तो उसकी अपेक्षा मुझे काला कहा जा सकता है, किसी अफ्रीकन को खड़ा कर दें तो गोरा भी कहा जा सकता है; किसी ठिगने आदमी को खड़ा कर दो तो लम्बा कहा जा सकता है और मुझसे भी

लम्बे आदमी को खड़ा कर दो तो ठिगना भी कहा जा सकता है। इसीप्रकार किसी मोटे आदमी को खड़ा कर दो तो मुझे पतला कहा जा सकता है और मुझसे भी पतले आदमी को खड़ा कर दो तो मोटा भी कहा जा सकता है।

मैं किसी की अपेक्षा भले ही मोटा-पतला या गोरा-काला हो सकता हूँ, पर निरपेक्षपने तो जैसा हूँ, वैसा ही हूँ।

उसने अपनी माँ की तुलना किसी दूसरे से की ही न थी। अत: वह कैसे बताये कि उसकी माँ कैसी है?

उसके निरुत्तर रहने पर पुलिसवाले कहते हैं कि वह तो अपनी माँ को पहिचानता ही नहीं है, पर क्या यह बात सच है? क्या वह बालक अपनी माँ को पहिचानता नहीं है?

पहिचानना अलग बात है और पहिचान को भाषा देना अलग। हो सकता है कि वह अपने भावों को व्यक्त नहीं कर सकता हो, पर पहिचानता ही न हो— यह बात नहीं है; क्योंकि यदि उसकी माँ उसके सामने आ जावे तो वह एक क्षण में पहिचान लेगा।

एक बीमा एजेन्ट ने कुछ वर्ष पूर्व उसकी माँ का एक बीमा करवाया था। अत: उसकी डायरी में सब-कुछ नोट है कि उसकी लम्बाई कितनी है, वजन कितना है, कमर कितनी है और सीना कितना है।

अत: वह यह सब-कुछ बता सकता है, पर उसके

सामने वह माँ आ जाये तो पहिचान न पावेगा। यदि पूछा जाय तो डायरी निकाल कर देखेगा और फीता निकाल कर नापने की कोशिश करेगा; पर सब बेकार है; क्योंकि जब उसने नाप लिया था, तब सीना ३६ इंच था और कमर ३२ इंच, पर आज सीना ३२ इंच रह गया होगा और कमर ३६ इंच हो गई होगी।

इसीप्रकार शास्त्रों में पढ़कर आत्मा की नाप-जोख करना अलग बात है और आत्मा का अनुभव करके पहिचानना, उसमें अपनापन स्थापित करना अलग बात है।

जो भी हो, जब बालक कुछ भी न बता सका तो पुलिसवालों ने बालक को एक ऐसे स्थान पर खड़ा कर दिया, जहाँ से मेले में आनेवाली सभी महिलायें निकलती थीं। बालक की सुरक्षा के लिए एक पुलिसवाले को भी साथ में खड़ा कर दिया और बालक से कहा—

"यहाँ से निकलनेवाली प्रत्येक महिला को ध्यान से देखो और अपनी माँ को खोजो।"

इससे एक ही बात फलित होती है कि बालक को अपनी माँ स्वयं ही खोजनी होगी, किसी का कोई विशेष सहयोग मिलनेवाला नहीं है; पुलिसवालों का भी नहीं।

इसीप्रकार प्रत्येक आत्मार्थी को अपने आत्मा की खोज स्वयं ही करनी होगी, किसी दूसरे के भरोसे कुछ होनेवाला

नहीं है, गुरु के भरोसे रहने पर भी आत्मा मिलनेवाला नहीं है। **'अपनी मदद आप करो'**—यही महासिद्धान्त है।

किसी भी महिला के वहाँ से निकलने पर पुलिसवाला पूछता— "क्या यही तेरी माँ है?"

बालक उत्तर देता— 'नहीं।'

ऐसा दो-चार बार होने पर पुलिसवाला चिढ़चिढ़ाने लगा और बोला—

"क्या नहीं-नहीं करता है, जरा अच्छी तरह देख।"

क्या माँ को पहिचानने के लिए भी अच्छी तरह देखना होता है, वह तो पहली दृष्टि में ही पहिचान ली जाती है, पर पुलिसवाले को कौन समझाये?

पुलिसवाले की झल्लाहट एवं डाट-डपट से बालक, जो माँ नहीं है, उसे माँ तो कह नहीं सकता; यदि डर के मारे कह भी दे, तो भी उसे माँ मिल तो नहीं सकती; क्योंकि उस माँ को भी तो स्वीकार करना चाहिए कि यह बालक मेरा है। यदि कारणवश माँ भी झूठ-मूठ कह दे कि हाँ यह बालक मेरा ही है। पर उससे वह बालक उसका हो तो नहीं जायेगा।

आप कह सकते हैं कि वह महिला भी ऐसा क्यों कहेगी? पर मैं कहता हूँ— कह सकती है, बाँझ हो तो बालक के लोभ में कह सकती है और पुलिसवाले तो किसी

से भी कुछ भी कहला सकते हैं। क्या आप यह नहीं जानते? पर बात यह है कि इतने मात्र से माँ को बालक और बालक को अपनी माँ तो नहीं मिल जावेगी।

इसीप्रकार गुरु बार-बार समझायें और समझ में न आने पर हमें भला-बुरा कहने लगें तो हम भय से, इज्जत जाने के भय से कह सकते हैं कि हाँ समझ में आ गया, पर इतना कहने मात्र से तो कार्य चलनेवाला नहीं है।

इज्जतवाले सेठ ने गुरुजी से पूछा— "भगवान! आत्मा कैसा है और कैसे प्राप्त होता है?"

गुरुजी ने पाँच मिनट समझाया और पूछा—

"आया समझ में?"

सेठ ने विनयपूर्वक उत्तर दिया— "नहीं गुरुजी"

गुरुजी ने पाँच मिनट और समझाया और फिर पूछा—

"अब आया?"

'नहीं' उत्तर मिलने पर व्याकुलता से गुरुजी फिर समझाने लगे, उदाहरण देकर समझाया और फिर पूछा "अब तो आया या नहीं?"

'नहीं' उत्तर मिलने पर झल्लाकर बोले—

"माथे में कुछ है भी या गोबर भरा है?"

घबराकर सेठजी बोले—"अब समझ में आ गया"

इज्जतवाले थे न, इज्जत जाती दिखी तो बिना समझ में

आये ही कह दिया, पर बालक तो इज्जतवाला नहीं है न?

अत: वह माँ के मिले बिना कहनेवाला नहीं है; क्योंकि उसे इज्जत नहीं, माँ चाहिए। जिन्हें आत्मा से अधिक इज्जत प्यारी है, उन्हें इज्जत ही मिलती है, आत्मा नहीं।

जब बार-बार बालक ना कहता रहा तो पुलिसवाला झल्लाकर बोला— "मैं धूप में क्यों खड़ा रहूँ, माँ तो तुझे ही खोजनी है। अत: मैं वहाँ छाया में बैठा हूँ, तू सभी महिलाओं को देख; जब माँ मिल जावे, तब मुझे बता देना।"

ऐसा कहकर पुलिसवाला दूर छाया में जा बैठा। बालक ने भी राहत की सांस ली; क्योंकि पुलिसवाला कुछ सहयोग तो कर ही नहीं रहा था; व्यर्थ ही टोका-टोकी कर ध्यान को भंग अवश्य कर रहा था।

कम से कम अब उसके चले जाने पर बालक पूरी शक्ति से, स्वतंत्रता से माँ को खोज तो सकता है।

इसीप्रकार जब साधक आत्मा की खोज में गहराई से तत्पर होता है, तब उसे अनावश्यक टोका-टोकी या चर्चा-वार्ता पसन्द नहीं होती; क्योंकि वह उसके ध्यान को भंग करती है।

उस बालक को अपनी माँ की खोज की जैसी तड़प है, आत्मा की खोज की वैसी तड़प हमें भी जगे तो आत्मा मिले बिना नहीं रहे।

वह बालक अच्छी तरह जानता है कि यदि सायं तक माँ नहीं मिली तो क्या होगा? घनी अंधेरी रात उसे पुलिस चौकी की काली कोठरी में अकेले ही बितानी होगी और न मालूम क्या-क्या बीतेगी उस पर? बात मात्र इतनी ही नहीं है। यदि माँ मिली ही नहीं तो सारा जीवन भीख मांगकर गुजारना पड़ सकता है। इसका ख्याल आते ही वह काँप उठता है, सब-कुछ भूलकर अपनी माँ की खोज में संलग्न हो जाता है।

क्या उस बालक के समान हमें भी यह कल्पना है कि यदि जीवन की संध्या तक भगवान आत्मा नहीं मिला तो चार गति और चौरासी लाख योनियों के घने अंधकार में अनन्त काल तक भटकना होगा, अनन्त दु:ख भोगने होंगे। यदि हमें इसकी कल्पना होती तो हम यह बहुमूल्य मानवजीवन यों ही विषय-कषाय में बर्बाद नहीं कर रहे होते।

उस बालक से यदि कोई कहे कि बहुत देर हो गई धूप में खड़े-खड़े; जरा इधर आओ, छाया में बैठ जाओ; कुछ खाओ-पिओ, खेलो-कूदो, मन बहलाओ; फिर खोज लेना अपनी माँ को, क्या जल्दी है अभी; अभी तो बहुत दिन बाकी है।

तो क्या वह बालक उसकी बात सुनेगा, शान्ति से छाया में बैठेगा, इच्छित वस्तु प्रेम से खायेगा, खेलेगा-कूदेगा, मन बहलायेगा? यदि नहीं तो फिर हम और आप भी यह सब कैसे कर सकते हैं, पर कर रहे हैं; —इससे यही प्रतीत होता

है कि हमें आत्मा की प्राप्ति की वैसी तड़प नहीं है, जैसी उस बालक को अपनी माँ की खोज की है। इसलिए मैं कहता हूँ कि आत्मा की प्राप्ति के लिए जैसा और जितना पुरुषार्थ चाहिए, वह नहीं हो रहा है— यही कारण है कि हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं हो रही है।

यह बात भी नहीं है कि वह बालक भूखा ही रहेगा; खायेगा, वह भी खायेगा, पर उसे खाने में कोई रस नहीं होगा। धूप बर्दाश्त न होने पर थोड़े समय को छाया में भी बैठ सकता है, पर ध्यान उसका माँ की खोज में ही रहेगा। खेलने-कूदने और मनोरंजन का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

इसीप्रकार आत्मा का खोजी भी भूखा तो नहीं रहता, पर खाने-पीने में ही जीवन की सार्थकता उसे भासित नहीं होती। यद्यपि वह स्वास्थ्य के अनुरूप ही भोजन करेगा, पर अभक्ष्य भक्षण करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। कमजोरी के कारण वह अनेक सुविधाओं के बीच भी रह सकता है, पर उसका ध्यान सदा आत्मा की ओर ही रहता है। खेलने-कूदने और मनोरंजन में मनुष्य भव खराब करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

जब माँ की खोज में व्यस्त बालक का मन खेल-कूद और मनोरंजन में नहीं लगता; तब आत्मा के खोजी को यह सब कैसे सुहा सकता है?

संयोग तो पुण्य-पापानुसार जैसे होते हैं, वैसे होते हैं, उनमें ही वह अपना जीवन-निर्वाह करता है। यदि पुण्ययोग हुआ तो उसे अधिकतम लौकिक सुविधायें भी उपलब्ध हो सकती हैं, रहने को राजमहल भी मिल सकता है; यद्यपि वह राजमहल में रहेगा, उसे झोंपड़ी में परिवर्तित नहीं करेगा; तथापि वह उन अनुकूल संयोगों में मग्न नहीं होता, उसका अन्तर तो निज भगवान आत्मा की आराधना में ही रत रहता है।

जिसप्रकार संध्या के पूर्व बालक को माँ मिलनी ही चाहिए; उसीप्रकार जीवन संध्या के पूर्व हमें भगवान आत्मा की प्राप्ति होना ही चाहिए—ऐसा दृढ़-संकल्प प्रत्येक आत्मार्थी का होना चाहिए; तभी कुछ हो सकता है।

मानलो मेला प्रात: १० बजे आरंभ हुआ था और शाम को ६ बजे समाप्त होना है। इसप्रकार कुल मेला ८ घंटे का है। मानलो हमारा जीवन भी कुल ८० वर्ष का होगा। इस हिसाब से १० वर्ष का एक घंटा हुआ। मानलो १० बजे हमारा जन्म हुआ तो ११ बजे हम १० वर्ष के हो गये। इसी प्रकार १२ बजे २० वर्ष के, १ बजे ३० वर्ष के, २ बजे ४० वर्ष के, ३ बजे ५० वर्ष के, ४ बजे ६० वर्ष के, ५ बजे ७० वर्ष के और ६ बजे पूरे ८० वर्ष के हो जावेंगे।

दिन के दो बज गये हैं; पर अभी तक माँ नहीं मिली

तो वह बालक आकुल-व्याकुल हो उठता है; क्योंकि उसे कल्पना है कि यदि शाम तक माँ न मिली तो उसका क्या होगा?

अरे, भाई! हमारे तो चार बज गये हैं। चार बज गये हैं अर्थात् हम तो साठ वर्ष के हो गये हैं और अभी तक आत्मा नहीं मिला। ऐसे ही दो घंटे और निकल गये, दस-बीस वर्ष और निकल गये तो फिर क्या होगा हमारा। उस बालक के समान हमें भी इस बात की कल्पना है या नहीं? जरा, एक बार गंभीरता से विचार तो करो।

यह बहुमूल्य जीवन यों ही बीता जा रहा है और हम रंग-राग में ही मस्त हैं; क्या होगा हमारा?

आत्मखोजी की दृष्टि भी उस बालक जैसी ही होना चाहिए। जिसप्रकार वह बालक अपनी माँ की खोज की प्रक्रिया में अनेक महिलाओं को देखता है, पर उसकी दृष्टि किसी भी महिला पर जमती नहीं है। यह पता चलते ही कि यह मेरी माँ नहीं है; वह नजर फेर लेता है; उसी को देखता नहीं रहता। यह नहीं सोचता कि यह मेरी माँ तो नहीं है, पर है तो सुन्दर; किसी न किसी की माँ तो होगी ही; पता चलाओ कि यह किसकी माँ है?— ऐसे विकल्पों में नहीं उलझता; उसके सम्बन्ध में विकल्पों को लम्बाता नहीं है; अपितु तत्काल तत्सम्बन्धी विकल्पों से निवृत्त हो जाता है।

उसीप्रकार आत्मार्थी को भी चाहिए कि वह परपदार्थों को जानते समय, उनके सम्बन्ध में व्यर्थ ही विकल्पों को लम्बा न करे। जिस प्रयोजन से उनका जानना बना है, उसकी सिद्धि होते ही तत्सम्बन्धी विकल्पों को विराम दे दे; किसी भी प्रयोजनभूत-अप्रयोजनभूत परपदार्थ को जानकर उसे ही जानते रहना आत्मार्थी का लक्षण नहीं है।

अपनी माँ की खोज करनेवाला बालक किसी अन्य महिला की सुन्दरता पर रीझता नहीं है; उसे तो अपनी माँ चाहिए, दूसरी महिलाओं से उसे क्या उपलब्ध होनेवाला है? अपनी माँ की खोज में व्यस्त बालक के पास दूसरी महिलाओं का सौन्दर्य निरखने का समय ही कहाँ है, उन पर रीझने योग्य मानस ही उसके पास कहाँ है? वह तो अपनी माँ की खोज में ही आकुल-व्याकुल है।

इसीप्रकार परपदार्थों के अवलोकन से, उनपर रीझने से इस भगवान आत्मा को क्या मिलनेवाला है? आत्मार्थी के पास इतना समय भी कहाँ है कि वह दूसरों की सुन्दरता निरखता रहे; किसी आत्मार्थी के पास परपदार्थों पर रीझने योग्य मानस भी कहाँ होता है? वह तो अपनी आत्मा की खोज के लिए सम्पूर्णत: समर्पित होता है।

दूसरे की माताओं को जाना तो क्या, नहीं जाना तो क्या? अपनी माँ मिलनी चाहिए। उसीप्रकार दूसरे पदार्थों को जाना

तो क्या, नहीं जाना तो क्या; अपनी आत्मा जानने में आना चाहिए, पहिचानने में आना चाहिए; क्योंकि हमें अनन्त आनन्द की प्राप्ति तो निज भगवान आत्मा के जानने से ही होनेवाली है। यही कारण है कि जिनागम में स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति और परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होना बताया गया है।

जिसप्रकार वह बालक अन्य महिलाओं को जानता तो है, पर उनकी ओर लपकता नहीं है; उनसे लिपटता नहीं है; पर जब उसे अपनी माँ दिख जावेगी तो मात्र उसे जानेगा ही नहीं; उसकी तरफ लपकेगा भी; उससे लिपट भी जावेगा; उसमें तन्मय हो जावेगा, एकमेक हो जावेगा, आनन्दित हो जावेगा।

उसीप्रकार आत्मार्थी आत्मा भी परद्रव्यों को जानते तो हैं, पर उनमें जमते, रमते नहीं हैं; पर जब यह निज भगवान आत्मा उसके ज्ञान का ज्ञेय बनेगा तो, तब वह उसे भी मात्र जानता ही नहीं रहेगा, अपितु उसी में जम जावेगा, रम जावेगा, उसी में तन्मय हो जावेगा, उसी में अपनापन स्थापित कर लेगा, अनन्त आनन्दमय हो जावेगा।

उसकी यह अतीन्द्रिय आनन्दमय निजावलोकन की दशा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्चारित्र है, मुक्ति का मार्ग है, सुखी होने का एकमात्र उपाय है, परमात्मा बनने

की प्रक्रिया है, धर्म है; अधिक क्या कहें— जीवन में करने योग्य एकमात्र कार्य यही है, इसे ही स्वद्रव्य का आश्रय कहते हैं और यही सुगति भी है, बंध का निरोध भी इसी से होता है।

अच्छा तो अब कल्पना कीजिए कि उस बालक को माँ दिखाई दे गई और उसने उसे अच्छी तरह पहिचान भी लिया कि यही मेरी माँ है तो फिर वह दौड़कर माँ के पास जायेगा या पुलिसवाले के पास यह सूचना देने कि मेरी माँ मिल गई है। निश्चित रूप से वह माँ के ही पास जायेगा; क्योंकि एक तो वह माँ के वियोग में तड़फ रहा था और दूसरे यह भी तो खतरा है कि जबतक वह पुलिस को सूचना देने जाता है तबतक माँ फिर आँखों से ओझल हो गई तो. . . ।

अतः वह तेजी से दौड़कर माँ के पास पहुँचेगा; पहुँचेगा ही नहीं, उससे लिपट जायेगा; माँ और बेटा तन्मय हो जावेंगे, अभेद हो जावेंगे, एक रूप हो जावेंगे।

उसीप्रकार जब इस आत्मा की दृष्टि में निज भगवान आत्मा आता है, तब यह गुरु को या किसी अन्य को यह बताने नहीं दौड़ता कि मुझे आत्मा का अनुभव हो गया है; अपितु निज भगवान आत्मा में ही तन्मय हो जाता है, अपने में ही समा जाता है, एकरूप हो जाता है, अभेद हो जाता है, विकल्पातीत हो जाता है।

जब वह माँ की ओर दौड़ा तो पुलिसवाला भी घबड़ाया और उसके पीछे वह भी दौड़ा। पुलिसवाले की घबराहट का कारण यह था कि यदि बच्चा भी भीड़ में गायब हो गया तो मुश्किल हो जायेगी; क्योंकि उसकी तो रिपोर्ट लिखी हुई है। पुलिस की कस्टडी से बालक का गायब हो जाना, उसकी नौकरी जाने का कारण भी बन सकता है।

जब पुलिसवाला वहाँ पहुँचा तो क्या देखता है कि वह बालक किसी अधेड़ महिला से एकमेक हो रहा है, दोनों एक-दूसरे से तन्मय हो रहे हैं।

उन्हें एकाकार देखकर भी अपनी आदत के अनुसार पुलिसवाला घुड़ककर पूछता है— "क्या यही है तेरी माँ ?"

क्या अब भी यह पूछने की आवश्यकता थी? उनके इस भावुक सम्मिलन से क्या यह सहज ही स्पष्ट नहीं हो गया था कि ये ही वे बिछुड़े हुए माँ-बेटे हैं, जिनकी एक-दूसरे को तलाश थी। जो इस सम्मिलन के अद्‌भुत दृश्य को देखकर भी न समझ पाये, उससे कुछ कहने से भी क्या होगा?

उसीप्रकार आत्मानुभवी पुरुष की दशा देखकर भी जो यह न समझ पाये कि यह आत्मानुभवी है, उसे बताने से भी क्या होनेवाला है?

पुलिसवालों की वृत्ति और प्रवृत्ति से तो आप परिचित

ही हैं, उनसे उलझना ठीक नहीं है; क्योंकि यह बता देने पर भी कि यही मेरी माँ है, वे यह भी कह सकते हैं कि क्या प्रमाण है इसका? जैसा कि लोक में देखा जाता है कि खोई हुई वस्तु पुलिस कस्टडी में रखी जाती है, केस चलता है, अनेक वस्तुओं में मिलाकर पहिचानना होता है, तब भी मिले तो मिले, न मिले तो न मिले।

मेरी यह घड़ी यहीं पर रह जावे और इसे कोई पुलिस में जमा करा दे तो समझना कि अब हमें इसका मिलना बहुत कठिन है। केस चलेगा, उसीप्रकार की अनेक घड़ियों में मिलाकर मुझ से पहिचान कराई जावेगी। मैं आपसे ही पूछता हूँ कि एक कम्पनी की एक सी घड़ियों में क्या आप अपनी घड़ी पहिचान सकेंगे? नहीं तो फिर समझ लीजिए कि मेरी घड़ी मिलना कितना दुर्लभ है?

अतः पुलिसवालों से उलझना ठीक नहीं है, वे जो पूछें चुपचाप उत्तर देते जावो, इसी में भलाई है; क्योंकि यदि उन्होने माँ और बेटे दोनों को ही पुलिस कस्टडी में रख दिया तो क्या होगा?

यह जगत भी पुलिसवालों से कम थोड़े ही है, इससे उलझना भी ठीक नहीं है; जगत के लोग यह भी तो पूछ सकते हैं कि क्या प्रमाण है कि तुम ज्ञानी हो; तो क्या ज्ञानीजन फिर इस बात के प्रमाण भी पेश करते फिरेंगे?

प्रमाण पेश करने पर उन प्रमाणों की प्रामाणिकता पर संदेह किया जायेगा। अत: ज्ञानीजन इसप्रकार के प्रसंगों में जगत से उलझते नहीं हैं। इसी में सबकी भलाई है।

क्या वह बालक इस बात की घोषणा करता है कि मुझे मेरी माँ मिल गई है। बालक या माँ के खोने पर तो यहाँ-वहाँ तलाश भी की जाती है और समाचारपत्रों में विज्ञापन भी निकाला जाता है, पर मिल जाने पर तो कोई घोषणाएँ नहीं करता, विज्ञापन नहीं निकालता।

इसीप्रकार आत्मा की खोज की प्रक्रिया में तो पूछताछ हो सकती है, होती भी है, होना भी चाहिए; पर आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर घोषणा की आवश्यकता नहीं होती, विज्ञापन की भी आवश्यकता नहीं होती।

खोये हुए लोगों के फोटो तो समाचारपत्रों में छपे देखे हैं, पर मिले हुए लोगों के फोटो तो आजतक नहीं देखे। यदि कोई छपाये तो यही समझा जाता है कि यह तो स्वयं के सम्पन्न होने के प्रचार का हल्कापन है। इसीप्रकार ज्ञानी होने की घोषणाएँ भी सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने की ही वृत्ति है, प्रवृत्ति है।

बालक को माँ मिल गई, इतना ही पर्याप्त है, उसे माँ मिलने का यश नहीं चाहिए; इसीप्रकार ज्ञानियों को तो आत्मा की प्राप्ति ही पर्याप्त लगती है, उन्हें आत्मज्ञानी होने

का यश मोहित नहीं करता। बालक को तो माँ का मिलना ही पर्याप्त है, वह तो उसी में मग्न है, अत्यन्त सन्तुष्ट है, पूरी तरह तृप्त है, उसे अन्य कोई वांछा नहीं रहती। इसीप्रकार ज्ञानी धर्मात्माओं को तो आत्मा की प्राप्ति ही पर्याप्त है, वे तो उसी में मग्न रहते हैं उसी में सन्तुष्ट रहते हैं; उसी में पूरी तरह तृप्त रहते हैं, उन्हें अन्य कोई वांछा नहीं रहती। वे इस बात के लिए लालायित नहीं रहते कि जगत उन्हें ज्ञानी समझे ही।

बालक को माँ मिल गई, बस, वह तो उसमें मग्न है, तृप्त है; पर माँ के सामने एक समस्या है कि बालक के खोने पर उसने एक घोषणा की थी कि जो व्यक्ति बालक को उससे मिलायेगा, खोज लायेगा; उसे वह ५०० रुपये पुरस्कार देगी। अब वह पुरस्कार किसे दिया जाय— पुलिस को, बालक को या माँ को?

पुलिस ने तो कुछ किया ही नहीं, माँ को तो बालक ने ही खोजा है और बालक को माँ ने खोजा है। पुलिस तो पुरस्कार पाने योग्य नहीं और माँ पुरस्कार देनेवाली है; अब बालक ही शेष रहता है, पर बालक को तो पुरस्कार नहीं, माँ चाहिए थी, जो उसे मिल गई है; अब उसे पुरस्कार में कोई रस नहीं है। वह तो अपनी माँ में ही इतना तृप्त है कि पुरस्कार की ओर उसका लक्ष्य ही नहीं है।

भाई, पुलिस का कोई योगदान ही न हो, यह बात भी नहीं है। आखिर बालक ने अपनी माँ की खोज पुलिस की सुरक्षा में ही की है, पुलिस के मार्गदर्शन में ही की है, यदि पुलिस की सुरक्षा उसे न मिली होती तो बालकों को उड़ाने वाला कोई गिरोह उसे उड़ा ले गया होता।

यदि पुलिसवाले मार्मिक बिन्दु पर उसे खड़ा नहीं करते तो माँ की खोज में बालक यहाँ-वहाँ मारा-मारा फिरता और माँ हाथ न लगती। पुलिस ने उसे ऐसा स्थान बताया कि जहाँ से प्रत्येक महिला का निकलना अनिवार्य-सा ही था, तभी तो उसे माँ मिल सकी।

अत: पुरस्कार पुलिस को ही मिलना चाहिए। इतने श्रम के बावजूद भी पुलिस को पुरस्कार के अतिरिक्त और मिला ही क्या है? बालक को तो माँ मिल गई, माँ को बालक मिल गया, पुलिस को क्या मिला? यह पुरस्कार मिल रहा है, सो आप वह भी नहीं देना चाहते— यह ठीक नहीं है।

इसीप्रकार ज्ञानी गुरुओं के संरक्षण और मार्गदर्शन में ही आत्मा की खोज का पुरुषार्थ प्रारंभ होता है। यदि गुरुओं का संरक्षण न मिले तो यह आत्मा कुगुरुओं के चक्कर में फंसकर जीवन बर्बाद कर सकता है। तथा यदि गुरुओं का सही दिशा-निर्देश न मिले तो अप्रयोजनभूत बातों में ही उलझकर जीवन बर्बाद हो जाता है। अत; आत्मोपलब्धि में

गुरुओं के संरक्षण एवं मार्गदर्शन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गुरुजी अपना कार्य (आत्मोन्मुखी उपयोग) छोड़कर शिष्य का संरक्षण और मार्गदर्शन करते हैं; उसके बदले में उन्हें श्रेय के अतिरिक्त मिलता ही क्या है? आत्मोपलब्धि करनेवाले को तो आत्मा मिल गया, पर गुरुओं को समय की बर्बादी के अतिरिक्त क्या मिला? फिर भी हम उन्हें श्रेय भी न देना चाहें— यह तो न्याय नहीं है। अत: निमित्तरूप में श्रेय तो गुरुओं को ही मिलता है, मिलना भी चाहिए, उपादान निमित्त की यही संधि है, यही सुमेल है।

जिसप्रकार उस बालक ने अपनी माँ की खोज के लिए विश्व की सभी महिलाओं को दो भागों में विभाजित किया। एक भाग में अकेली अपनी माँ को रखा। दूसरे भाग में शेष सभी महिलाओं को रखा।

उसीप्रकार आत्मा की खोज करने वालों को भी विश्व को दो भागों में विभाजित करना आवश्यक है। एक भाग में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा को रखें और दूसरे भाग में परद्रव्य अर्थात् अपने आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थ रखे जावें।

जिसप्रकार उस बालक को अपनी माँ की खोज के सन्दर्भ में देखने-जानने योग्य तो सभी महिलायें हैं; पर लिपटने-चिपटने योग्य मात्र अपनी माँ ही है; उसीप्रकार

आत्मार्थी के लिए भी देखने-जानने योग्य तो सभी पदार्थ हैं; पर जमने-रमने योग्य निज भगवान आत्मा ही है, रति करने योग्य तो सुगति के कारणरूप स्वद्रव्य ही है, अपनापन स्थापित करने योग्य अपना आत्मा ही है, दुर्गति के कारणरूप परद्रव्य नहीं; इसीलिए मोक्षपाहुड़ में कहा गया है—

"परद्रव्य से हो दुर्गति निज द्रव्य से होती सुगति।
यह जानकर रति करो निज में अर करो पर से विरति॥[१]"

अपनी माँ को खोजने की जिसप्रकार की धुन—लगन उस बालक को थी, आत्मा की खोज को उसीप्रकार की धुन-लगन आत्मार्थी को होना चाहिए। आत्मार्थी की दृष्टि में स्वद्रव्य अर्थात् निज भगवान आत्मा ही सदा ऊर्ध्वरूप से वर्तना चाहिए। गहरी और सच्ची लगन के बिना जगत में कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, तो फिर आत्मोपलब्धि भी गहरी और सच्ची लगन के बिना कैसे संभव है?

सभी आत्मार्थी भाई परद्रव्य से विरक्त हो स्वद्रव्य की आराधना कर आत्मोपलब्धि करें और अनन्त सुखी हों— इसी मंगल भावना से विराम लेता हूँ। ■

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द : मोक्ष पाहुड गाथा १६